विदेह की अवधारणा

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़,

पूर्व कुलपति सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

विदेह का अर्थ है– देह से ममता मोह का हट जाना। देह में रहते हुए बिना देह का महसूस करना विदेह कहलाता है। महाराज जनक विदेहराज थे। जीवन जीते हुए सभी प्रकार की आसक्तियों को उन्होंने त्याग दिया था। इसलिए वे विदेहराज कहलाते थे। अद्वैतवेदान्त में केवल ब्रह्म को सत्य माना गया है, इसके अतिरिक्त सब मिथ्या है। सांख्यदर्शन पुरुष और प्रकृति दो तत्वों को मानता है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। दोनों के संयोग से सृष्टि का विकासक्रम चलता है।

मानव का अस्तित्व शरीर के पीछे नहीं है। हमारा अस्तित्व आत्मा पर निर्भर है। जो दर्शन कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं वह आत्मा पर भी विश्वास करते है। चार्वाक दर्शन आत्मा पर विश्वास नहीं करता। उसका मानना है कि शरीर के साथ–साथ चेतना भी नष्ट हो जाती है। चार्वाक दर्शन चेतना को भी पंचभूतों से उत्पन्न मानता है। उसका कहना है कि जैसे विभिन्न प्रकार के भौतिक पदार्थों के संयोग से शराब में मादकता उत्पन्न हो जाती है वैसे ही भौतिक पदार्थों के संयोग से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

जैनदर्शन का आत्मवाद के सिद्धान्त को मानता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शरीरव्यापी है। चींटी के शरीर में आत्मा और हाथी के शरीर में व्याप्त आत्मा शरीर के अनुसार सिकुड़ती और फैलती रहती है। यह विश्व छह द्रव्यों की रचना है। इसमें दो प्रकार के जीव हैं– 1. मुक्त जीव 2. संसारी जीव। मुक्त जीव को परमात्मा, ईश्वर, सर्व शक्तिमान, सिद्ध, शुद्ध जीव, आदि नामों से जाना जाता है। इन मुक्त जीवों के अतिरिक्त सभी जीव संसारी जीव हैं। जैन दर्शन के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं उतने जीव हैं।

जैन दर्शन में जीव का लक्षण, उपयोगमय, कर्त्ता, स्वदेह परिणामी, संसारी रूप में बताया गया है। जीव का उपयोग लक्षण चेतना है। विश्व में कोई भी ऐसा जीव या प्राणी नहीं है, जिसमें चेतना विद्यमान न हो अर्थात अस्तित्व के रूप में प्रत्येक जीव चेतनयुक्त है। समस्त जीवों में

विकास की क्षमता समान होती है लेकिन पुरुषार्थ के कारण ही कम विकसित या अधिक विकसित जीव दिखाई देते हैं। सम्पूर्ण संसार जीवों से भरा है। संसार में जन्म लेने वाला जीव अज्ञान के कारण ऐसे कर्मों का अर्जन करता है जिसके कारण उसे बंधन ग्रस्तता प्राप्त होती है इसलिए जैन दर्शन में प्रत्येक जीव अपने कर्मों का स्वयं जिम्मेदार है और कर्म के परिणामों की भी जिम्मेदारी स्वयं उसकी है यह जीव का कर्त्ता–भोक्तापन की विशेषता है। कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व संसारी जीव में ही पाया जाता है।

कर्म मुख्यतः दो प्रकार के है– घाती कर्म और अघाती कर्म। घाती कर्म आत्मा के स्वभावगत गुणों को नुकसान पहुंचाता है और अघाती कर्म वे कर्म है जो आत्मा के स्वाभाविक गुणों को नष्ट नहीं करते किन्तु बंधन के कारण होते है। चाहे लोह की श्रृंखला हो या स्वर्ण की दोनों से बंधन होता है। अतः जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ जैसे कषाय आत्मा के साथ रहेंगे बंधन होगा ही क्योंकि इससे आत्मा में कर्त्ताभाव जाग्रत हो जाता है। बंधन का कारण कर्त्ताभाव है। मैं और मेरा का अहंकार कर्त्ताभाव है।

दार्शनिक दृष्टि से यदि हम चिंतन करे तो बंधन और मुक्ति जीव के लिए है। कर्मों का बंधना बन्धन है। जो बंधे या जिसके द्वारा बांधा जाये या बन्धन मात्र को बन्ध कहते हैं। कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध हैं। कर्म प्रदेशों का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना, बन्ध है। मिथ्यादर्शनादि द्वारों से आए हुए कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है। जैसे बेड़ी आदि से बंधा हुआ प्राणी परतन्त्र हो जाता है और इच्छानुसार देशादि में नहीं आ–जा सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर अपना इष्ट विकास नहीं कर पाता। अनेक प्रकार के शरीर और मानस दुःखों से दुःखी होता है। जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदान शक्ति को लेकर आते हैं, इसी से वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृति वाले होते हैं।

प्रकृति का अर्थ स्वभाव। ज्ञानावरण कर्म की क्या प्रकृति है? अर्थ का ज्ञान न होना। ज्ञान में अवरोध उत्पन्न करने के कारण ज्ञानावरण होता है। जीव के प्रदेशों की उथल–पुथल को अस्थिति तथा उथल–पुथल न होने को स्थिति कहते हैं। जिसका जो स्वभाव है, उससे च्युत न होना स्थिति है। विविध प्रकार के पाक अर्थात् फल देने की शक्ति का पड़ना ही अनुभव है।

शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख–दुःख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बन्ध है। कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेशबन्ध है। कर्म पुद्गलों के ग्रहण को बन्ध कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति, ये सब कर्मों के आने के द्वार होने से आस्रव हैं। इनसे विपरीत सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, काय के व्यापार की निवृत्ति ये सब नवीन कर्मों के निरोध के हेतु होने से संवर हैं। आस्रव का निरोध करना ही संवर है।